

अद्वैत वेदान्त और काश्मीर शैवदर्शन में जगत् की स्थिति: मिथ्यात्व और आभास का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. दिनेश्वर यादव

प्रधानाचार्य, नंदन संस्कृत महाविद्यालय, ईशहपुर (मधुबनी)

सारांश

अद्वैत वेदान्त और काश्मीर शैवदर्शन परम चेतना की अद्वितीयता स्वीकार करते हैं, किन्तु चेतना और जगत् के सम्बन्ध की उनकी व्याख्याएँ समान नहीं हैं। प्रस्तुत शोधपत्र इस प्रश्न का परीक्षण करता है कि शाङ्कर अद्वैत का मिथ्यात्व और काश्मीर शैवदर्शन का आभास क्या एक ही दार्शनिक निष्कर्ष के भिन्न रूप हैं, अथवा उनके बीच वास्तविक तत्त्वमीमांसात्मक अन्तर विद्यमान है। अध्ययन का आधार शाङ्कर के ब्रह्मसूत्रभाष्य, छान्दोग्योपनिषद्भाष्य, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य, गौडपाद की माण्डूक्यकारिका तथा क्षेमराज के प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का तुलनात्मक पाठ है। आधुनिक अध्ययनों का उपयोग इन ग्रन्थों की व्याख्यात्मक समस्याओं को स्पष्ट करने के लिए किया गया है। विश्लेषण से प्रकट होता है कि दोनों परम्पराएँ जगत् की परम चेतना से स्वतन्त्र सत्ता का निषेध करती हैं; तथापि शाङ्कर अद्वैत नामरूपात्मक भेद की पारमार्थिकता को अस्वीकार करता है, जबकि प्रत्यभिज्ञा परम्परा विश्वाभिव्यक्ति को चित के स्वातन्त्र्य से सम्बद्ध करती है। अतः मिथ्यात्व का अर्थ सर्वथा अभाव और आभास का अर्थ मात्र भ्रम ग्रहण करना अनुचित है। दोनों अवधारणाओं में आश्रितता के स्तर पर आंशिक साम्य तथा बन्धन-निवृत्ति के स्तर पर कार्यात्मक सादृश्य है, परन्तु अभिव्यक्ति, कर्तृत्व और परम सत्ता के सम्बन्ध में मूलभूत वैषम्य बना रहता है। शोधपत्र का निष्कर्ष है कि इन दर्शनों की तुलना में अद्वैत की साझा स्वीकृति से अधिक महत्त्व उस भिन्न तर्क-पद्धति का है जिसके द्वारा प्रत्येक परम्परा अनुभवगत बहुलता की व्याख्या करती है।

बीजशब्दः अद्वैत वेदान्त, काश्मीर शैवदर्शन, मिथ्यात्व, आभास, चित, स्वातन्त्र्य, प्रत्यभिज्ञा।

1. प्रस्तावना

जगत् का अनुभव मनुष्य के लिए प्रत्यक्ष है, किन्तु उसकी अन्तिम स्थिति दर्शन की समस्या बनी रहती है। परिवर्तनशील वस्तुएँ, अनेक ज्ञाता और परस्पर सम्बद्ध घटनाएँ यदि अनुभव का आधार हैं, तो अद्वैत की स्थापना इनके सम्बन्ध में क्या परिवर्तन करती है? क्या अद्वैत अनुभव को निरस्त करता है, उसकी व्याख्या बदलता है, अथवा बहुलता को किसी व्यापक चेतन सत्ता की अभिव्यक्ति मानता है? अद्वैत वेदान्त और काश्मीर शैवदर्शन का तुलनात्मक अध्ययन इसी प्रश्न से आरम्भ किया जा सकता है।

शाङ्कर ब्रह्मसूत्र 2.1.14 के भाष्य में कार्य-जगत् की कारण-ब्रह्म से अनन्यता स्थापित करते हैं। उनका तर्क केवल इतना नहीं है कि जगत् ब्रह्म पर निर्भर है; वे कार्य और कारण के पारमार्थिक भेद को भी अस्वीकार करते हैं। इसके विपरीत, क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के प्रारम्भिक सूत्रों में स्वतन्त्र चित को विश्व की सिद्धि का हेतु बताते हुए उसी के द्वारा अपने भीतर विश्व के उन्मीलन का प्रतिपादन करते हैं। दोनों में चेतना से पृथक् स्वतन्त्र जगत् का निषेध है, किन्तु विश्वाभिव्यक्ति की दार्शनिक स्थिति भिन्न है। [1, ब्रह्मसूत्र 2.1.14], [2, सूत्र 1-2]।

प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य प्रश्न है: **क्या मिथ्यात्व और आभास जगत् की समान प्रकार की आश्रितता व्यक्त करते हैं, अथवा वे परम चेतना और बहुलता के सम्बन्ध के दो पृथक् प्रतिमान प्रस्तुत करते हैं?** इसके अन्तर्गत यह भी विचारणीय है कि दोनों दर्शनों में अज्ञान किसका है, ज्ञान किस भ्रान्ति को दूर करता है और मुक्ति के पश्चात् जगत् का अनुभव किस अर्थ में स्वीकार्य रहता है। इन प्रश्नों का उत्तर केवल ब्रह्मन् और परमशिव को पर्याय मान लेने से प्राप्त नहीं होता।

2. अध्ययन की सीमा, पद्धति और पूर्ववर्ती विमर्श

यहाँ वेदान्त से मुख्यतः शङ्कर का अद्वैत तथा शैवदर्शन से काश्मीर की अद्वैत प्रत्यभिज्ञा परम्परा अभिप्रेत है। विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शैवसिद्धान्त और अन्य परम्पराओं को इन निष्कर्षों में स्वतः सम्मिलित नहीं किया गया है। 'परमात्मवाद' का प्रयोग परम चेतन सत्ता, जीव और जगत् के सम्बन्ध-विचार के लिए तथा 'परमात्मैक्यवाद' का प्रयोग उस सिद्धान्त के लिए किया गया है जिसमें परम चेतना से पृथक् दूसरी स्वतन्त्र परम सत्ता स्वीकार नहीं की जाती। यह परिचालन परिभाषा दोनों दर्शनों की आन्तरिक भिन्नताओं को समाप्त नहीं करती।

अध्ययन की पद्धति पाठाधारित, विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक है। पहले सम्बन्धित मूल पाठ और भाष्य में जगत् की स्थिति देखी गई है; उसके बाद ज्ञान, कारणता और मुक्ति के प्रसंगों में उसका अर्थ निर्धारित किया गया है। तुलना के लिए पाँच श्रेणियाँ प्रयुक्त हैं—साम्य, आंशिक साम्य, कार्यात्मक सादृश्य, मूलभूत वैषम्य और असमतुलनीयता। विशेषतः व्यावहारिक कथन की तुलना पारमार्थिक कथन से करने से बचा गया है, क्योंकि ऐसा करने पर वास्तविक मतभेद और केवल स्तरभेद में अन्तर करना कठिन हो जाता है।

डाइचकोव्स्की ने अपने अध्ययन में काश्मीर शैवदर्शन और अद्वैत वेदान्त की तुलना करते हुए परम सत्ता तथा उसकी अभिव्यक्ति के सम्बन्ध को प्रमुख स्थान दिया है। उनका विवेचन दर्शाता है कि इस विषय पर तुलनात्मक विमर्श पहले से विद्यमान है; अतः दोनों परम्पराओं की तुलना को अपने-आप में अप्रयुक्त शोधक्षेत्र कहना उचित नहीं होगा। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य उस विमर्श में मिथ्यात्व और आभास की तुलना के मानदण्डों को अधिक स्पष्ट करना है। [3, पृ. 33-43]।

डेविड पीटर लॉरेन्स प्रत्यभिज्ञा को ऐसी दार्शनिक तर्कणा के रूप में पढ़ते हैं जो अनुभूति और व्याख्या की आवश्यक शर्तों से परम चेतना की स्थापना की ओर बढ़ती है। यह दृष्टि शैवदर्शन को केवल रहस्यात्मक अनुभव का वर्णन समझने की सीमा उजागर करती है। फिर भी आधुनिक पुनर्व्याख्या और मूल ग्रन्थ का अभिप्राय अलग-अलग पहचाना जाना चाहिए। इस लेख में आधुनिक अध्ययन मूल पाठ के स्थानापन्न नहीं, उसकी व्याख्या के संवाद-सहचर हैं। [4, पृ. 1-2]।

3. अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व का अभिप्राय

कार्य-कारण अनन्यता और नामरूप

छान्दोग्योपनिषद् 6.1.4 के मृत्पिण्ड-दृष्टान्त की शङ्कर व्याख्या जगत् की स्थिति समझने का महत्त्वपूर्ण आधार है। मिट्टी से निर्मित घटादि वस्तुओं के नाम और आकार भिन्न हैं, किन्तु मिट्टी से पृथक् उनका कोई स्वतन्त्र वस्तुतत्त्व नहीं मिलता। शङ्कर इस उदाहरण में कार्य की कारण से अनन्यता पर बल देते हैं। यहाँ घट का व्यवहारगत उपयोग प्रश्रुत नहीं है; प्रश्न यह है कि घटत्व क्या कारण से पृथक् अन्तिम सत्ता रखता है। [5, छान्दोग्योपनिषद् 6.1.4]।

इस दृष्टान्त को ब्रह्म और जगत् पर लागू करते समय सावधानी आवश्यक है। मिट्टी का घट में बदलना भौतिक परिवर्तन है, जबकि ब्रह्म को ऐसे परिवर्तन का आश्रय मानने से उसकी निरवयवता और अविकारिता की समस्या उत्पन्न होती है। इसलिए शङ्कर के तर्क में दृष्टान्त का निर्णायक अंश कार्य की स्वतन्त्र सत्ता का अभाव है। ब्रह्मसूत्रभाष्य 2.1.14 में वे एकत्व और नानात्व, दोनों को समान रूप से पारमार्थिक मानने वाले प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करते [1]।

यहाँ से मिथ्यात्व का आशय स्पष्ट होता है। जगत् अनुभव में आता है, इसलिए उसे सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता; किन्तु नामरूपात्मक भेद ब्रह्म के समान अबाधित परम सत्ता नहीं रखते। मिथ्यात्व वस्तुओं के अनुभव और उनकी पारमार्थिक प्रतिष्ठा के बीच अन्तर करता है। अतः 'जगत् मिथ्या है' का दार्शनिक अर्थ यह नहीं कि भूख, श्रम, सम्बन्ध अथवा ज्ञान की प्रक्रियाएँ अनुभव में घटित ही नहीं होतीं। उसका सम्बन्ध उनकी अन्तिम सत्ता के निर्णय से है।

अध्यास और अनुभव की संरचना

ब्रह्मसूत्रभाष्य की अध्यासभूमिका में शङ्कर आत्मा और अनात्मा के धर्मों के परस्पर आरोप का विवेचन करते हैं। शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण के गुण आत्मा के गुण मान लिए जाते हैं तथा आत्मचैतन्य के कारण जड़ उपाधियाँ चेतनवत् व्यवहार करती प्रतीत होती हैं। यह केवल किसी बाहरी वस्तु को गलत पहचानने की समस्या नहीं है; अनुभव करने वाला अपने स्वरूप के विषय में भी अविवेकग्रस्त है। [1, अध्यासभाष्य]।

इस विश्लेषण में आत्मज्ञान का लक्ष्य अनुभव की प्रत्येक विषयवस्तु मिटा देना नहीं, उस तादात्म्य की निवृत्ति है जिसके कारण व्यक्ति अपने को सीमित शरीर-मन का स्वरूप मानता है। इसी कारण अज्ञान को केवल सूचना की कमी कहना अपर्याप्त है। व्यक्ति अनेक वस्तुओं का प्रमाणसम्मत ज्ञान रखते हुए भी आत्मा और अनात्मा के सम्बन्ध में भ्रान्त रह सकता है। लौकिक विद्वत्ता और आत्मविवेक की यह भिन्नता अद्वैत की ज्ञानमीमांसा को उसके मोक्षविचार से जोड़ती है।

बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.14 की शाङ्कर व्याख्या में विज्ञाता को अन्य ज्ञेय वस्तुओं की तरह जानने की कठिनाई सामने आती है। जिस चेतना के कारण समस्त विषय ज्ञात हैं, उसे उन्हीं विषयों की श्रेणी में रखकर समझना सम्भव नहीं है। आत्मा का अविषयत्व उसे अज्ञेय शून्य नहीं बनाता; वह ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध की आधारभूत शर्त है। इस प्रकार अद्वैत का निषेध चैतन्य को नष्ट नहीं करता, बल्कि उसके विषयवत् सीमांकन का निषेध करता है। [6, बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.14]।

बाध, अनिर्वचनीयता और पारमार्थिक दृष्टि

मिथ्यात्व-विचार में बाध का अर्थ पूर्वस्वीकृत सत्यता का ज्ञान द्वारा निरसन है। किसी अनुभूति का घटित होना और उसके आधार पर किया गया निर्णय सत्य होना अलग बातें हैं। इसी अन्तर के कारण अद्वैत अनुभव की उपस्थिति स्वीकार करते हुए उसके अन्तिम अर्थ की समीक्षा करता है। अनिर्वचनीयता को भी इसी प्रसंग में समझना चाहिए: नामरूपात्मक जगत् को न ब्रह्म के समान परम सत् माना जा सकता है, न अनुभव से सर्वथा रहित असत्।

गौडपाद माण्डूक्यकारिका 2.32 में उत्पत्ति, निरोध, बन्धन, साधक और मुक्ति के समस्त विभाजनों का पारमार्थिक निषेध करते हैं। यह कथन साधना के स्तर पर प्रयत्न की निरर्थकता घोषित नहीं करता; वह उस अद्वैत दृष्टि का कथन है जिसमें वास्तविक द्वितीय सत्ता का अभाव है। व्यावहारिक और पारमार्थिक कथनों का यह अन्तर उपेक्षित होने पर अद्वैत आत्मविरोधी दिखाई पड़ सकता है। [7, कारिका 2.32 तथा शाङ्करभाष्य]।

4. काश्मीर शैवदर्शन में आभास और विश्वाभिव्यक्ति

चिति का स्वातन्त्र्य

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के सूत्र 1-2 विश्वाभिव्यक्ति को स्वतन्त्र चिति से सम्बद्ध करते हैं। चिति केवल उपस्थित वस्तुओं को प्रकाशित करने वाली निष्क्रिय स्थिति नहीं है; विश्व का उन्मीलन उसी के स्वातन्त्र्य से समझाया जाता है। क्षेमराज की वृत्ति में चिति से पृथक् किसी जड़ तत्त्व को स्वतन्त्र विश्वकारण स्वीकार करने की कठिनाई भी व्यक्त होती है। जो चेतना के प्रकाश से सर्वथा बाहर हो, उसकी स्थापना और उसका कारणत्व कैसे सम्भव होगा—यह इस तर्क की आधारभूत समस्या है [2, सूत्र 1-2, पृ. 34-39]।

आभास इस सन्दर्भ में चेतना के भीतर प्रकाशित विश्वरूप का द्योतक है। उसे साधारण भ्रम का पर्याय मान लेने पर शैव प्रतिपादन का अभिप्राय बदल जाता है। कोई आभास चेतना से पृथक् स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, किन्तु उसका प्रकाशन भी चेतना से बाहर की घटना नहीं है। विश्वाभिव्यक्ति की वास्तविकता चिति से उसकी अभिन्नता में समझी जाती है; इससे प्रत्येक सीमित निर्णय अथवा भ्रान्त अनुभूति समान रूप से सत्य नहीं हो जाती।

यह अन्तर विशेष महत्त्व रखता है। किसी वस्तु का चिति में प्रकाशित होना और उस वस्तु के विषय में व्यक्ति का निर्णय सही होना दो पृथक् प्रश्न हैं। आभासवाद पहले प्रश्न का तत्त्वमीमांसात्मक उत्तर देता है। वह दूसरे प्रश्न में सत्य और भ्रम का भेद अनावश्यक नहीं बनाता। अन्यथा शैवदर्शन में अज्ञान, साधना और प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता ही असंगत हो जाएगी। इस प्रकार विश्व की स्वीकृति और सीमित अनुभूति की आलोचना साथ-साथ सम्भव है।

प्रकाश-विमर्श और चेतना की आत्मसम्बद्धता

शैव परम्परा में प्रकाश और विमर्श का सम्बन्ध चेतना की प्रकृति को स्पष्ट करता है। प्रकाश अनुभूति की प्रकाशमानता है, जबकि विमर्श उसकी स्वानुभूत, आत्मसम्बद्ध शक्ति को व्यक्त करता है। विमर्श को सामान्य तर्क-वितर्क अथवा किसी दूसरे मानसिक निरीक्षक की क्रिया समझना उचित नहीं होगा। वह चित्ति की ऐसी आत्मसम्बद्धता है जिसमें प्रकाशित विश्व और उसका अनुभव करने वाली चेतना पूर्णतः अपरिचित दो तत्त्व नहीं रह जाते [2, सूत्र 1 की वृत्ति, p. 35]।

इसी प्रसंग में स्वातन्त्र्य को व्यक्तिगत इच्छापूर्ति से अलग रखना आवश्यक है। सीमित व्यक्ति की इच्छा किसी अभाव और अपेक्षित फल से प्रेरित हो सकती है। परम चित्ति का स्वातन्त्र्य किसी बाहरी सामग्री, बाध्यता अथवा दूसरे नियामक पर निर्भर न होने का द्योतक है। इसलिए विश्वाभिव्यक्ति को ऐसी आवश्यकता से उत्पन्न नहीं माना जाता जो परम सत्ता को अपूर्ण सिद्ध करे। यहाँ चेतना और उसकी शक्ति का सम्बन्ध बाहरी कर्ता तथा उपकरण का सम्बन्ध नहीं है।

संकोच और बन्धन

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के सूत्र 5 में चित्त को चित्ति के संकुचित रूप में समझाया गया है। सीमित ज्ञाता परम चेतना से पृथक् दूसरी चेतन सत्ता नहीं बन जाता; उसकी अनुभूति विषयों और सीमाओं के अनुरूप संकुचित होती है। सूत्र 12-13 में अपनी शक्तियों का अपरिज्ञान संसारित्व से तथा उनके परिज्ञान का सम्बन्ध चित्ति-स्वरूप की उपलब्धि से जोड़ा गया है [2, सूत्र 5, 12-13]।

इस आधार पर बन्धन को केवल बहुलता की उपस्थिति नहीं कहा जा सकता। यदि प्रत्येक भिन्न अनुभव अपने-आप में बन्धन होता, तो विश्वाभिव्यक्ति और मुक्ति परस्पर असंगत हो जाते। समस्या उस सीमित आत्मबोध में है जिसमें व्यक्ति प्रकाशित विश्व को अपने चेतन आधार से सर्वथा पृथक् और अपने को केवल संकुचित ज्ञाता मानता है। प्रत्यभिज्ञा इसी आत्मसंकोच की पुनर्समीक्षा है। उसका आशय किसी भूली हुई सामान्य वस्तु को पहचान लेने से व्यापक है।

5. मिथ्यात्व और आभास का तुलनात्मक परीक्षण

स्वतन्त्र सत्ता का निषेध: आंशिक साम्य

दोनों दर्शनों का सबसे स्पष्ट साम्य यह है कि जगत् परम चेतना के समानान्तर स्वतन्त्र अन्तिम सत्ता नहीं है। शङ्कर इसे कार्य की कारण से अनन्यता द्वारा स्थापित करते हैं; क्षेमराज इसे चित्ति के अपने भीतर विश्वोन्मीलन द्वारा स्पष्ट करते हैं [1, ब्रह्मसूत्र 2.1.14], [2, सूत्र 1-2]। किन्तु इस साझा निषेध से दोनों के सकारात्मक सिद्धान्त समान नहीं हो जाते। स्वतन्त्रता का निषेध किसी वस्तु की आश्रित अभिव्यक्ति स्वीकार करने और उसके भेद की पारमार्थिकता निरस्त करने, दोनों के साथ संगत हो सकता है।

उदाहरणतः किसी दृश्य को उसके आधार से अभिन्न मानना अभी यह निर्धारित नहीं करता कि दृश्य की विशिष्टता अन्तिम स्तर पर किस प्रकार स्वीकार की जाएगी। अद्वैत में नामरूप का पृथक् सत्यत्व बाधित होता है। शैवदर्शन में प्रकाशित विविधता को चित्ति की शक्ति से समझा जाता है। अतः आश्रितता के आधार पर आंशिक साम्य स्थापित होता है; पूर्ण सिद्धान्तगत अभेद नहीं।

अभिव्यक्ति और कर्तृत्व: मूलभूत वैषम्य

दोनों के बीच निर्णायक अन्तर परम सत्ता से अभिव्यक्ति और कर्तृत्व के सम्बन्ध में है। शङ्कर के ब्रह्मसूत्रभाष्य 2.1.14 में ईश्वर, जीव और उनके व्यवहार की स्थापना नामरूपात्मक उपाधियों तथा व्यवहार के सन्दर्भ में होती है। दूसरी ओर, प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में चित्ति का स्वातन्त्र्य विश्वाभिव्यक्ति की मूल व्याख्या है [1], [2]। इसलिए निर्गुण ब्रह्म के अकर्तृत्व और परमशिव के स्वातन्त्र्य को केवल भाषा का अन्तर कहकर समेटना सम्भव नहीं है।

यहाँ तुलना के स्तर की समस्या भी सामने आती है। यदि शैव परमशिव की तुलना अद्वैत के व्यावहारिक ईश्वर से की जाए, तो सृष्टि और नियमन के स्तर पर निकटता मिल सकती है; परन्तु परम सत्ता की अन्तिम स्थिति का प्रश्न अधूरा रहेगा। यदि तुलना निर्गुण ब्रह्म से की जाए, तो कर्तृत्व की स्थिति का वास्तविक मतभेद स्पष्ट होता है। दोनों तुलनाएँ उपयोगी हैं, लेकिन उनके निष्कर्ष परस्पर विनिमय नहीं हैं।

माया और शक्ति: असमतुलनीयता की सीमा

माया और शक्ति को सीधे पर्याय मानना भी अनुचित है। अद्वैत में अज्ञान और नामरूप की समस्या को समझाने वाली अवधारणाओं की भूमिका शैवदर्शन की परम चित् की स्वातन्त्र्यशक्ति जैसी नहीं है। इसी प्रकार शैव माया को सम्पूर्ण शक्ति का पर्याय बनाने से शुद्ध अभिव्यक्ति और सीमित भेदानुभूति का अन्तर मिट जाता है। तुलना में अवधारणाओं के नाम के साथ उनका कार्य और तात्त्विक स्तर भी देखना आवश्यक है [1, ब्रह्मसूत्र 2.1.14], [2, सूत्र 1, 5 तथा सम्बन्धित वृत्ति]। इस असमतुलनीयता का अर्थ यह नहीं कि दोनों में संवाद असम्भव है। वह केवल यह बताती है कि एक परम्परा की अवधारणा को दूसरी में बिना परिवर्तन स्थापित नहीं किया जा सकता। सार्थक तुलना का प्रश्न यह होगा कि प्रत्येक दर्शन परम चेतना की अद्वितीयता बनाए रखते हुए सीमित अनुभव की उत्पत्ति और निवृत्ति कैसे समझाता है। इस प्रश्न पर दोनों के उत्तर साथ पढ़े जा सकते हैं।

ज्ञान और मुक्ति: कार्यात्मक सादृश्य

अद्वैत और प्रत्यभिज्ञा दोनों में मुक्ति को किसी सर्वथा नवीन आत्मा के निर्माण की तरह नहीं समझा जाता। अद्वैत में ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान मिथ्या तादात्म्य का निरसन करता है। प्रत्यभिज्ञा में सीमित आत्मबोध का अतिक्रमण अपने चित्-स्वरूप की पहचान से सम्बद्ध है [1, 1.1.4], [2, सूत्र 13]। यहाँ ज्ञान की मुक्तिकारी भूमिका में कार्यात्मक सादृश्य है, यद्यपि ज्ञान द्वारा उद्घाटित स्वरूप की व्याख्या भिन्न रहती है।

क्षेमराज सूत्र 16 में शरीरादि के अनुभव के रहते हुए चित् के साथ ऐक्य की दृढ़ता को जीवन्मुक्ति से सम्बद्ध करते हैं। इस प्रतिपादन में विश्वानुभव की निरन्तरता मुक्ति का निषेध नहीं है [2, सूत्र 16, पृ. 79-80]। अद्वैत की ओर से भी केवल दृश्य अनुभव की उपस्थिति को अज्ञान का पर्याप्त प्रमाण मानना कठिन है, क्योंकि निर्णायक प्रश्न उसके प्रति सत्यबुद्धि और आत्मतादात्म्य का है। फिर भी दोनों की मुक्ति-अवधारणाओं को समान अनुभव का अप्रमाणित वर्णन घोषित नहीं किया जा सकता।

6. दार्शनिक निहितार्थ और आलोचनात्मक मूल्यांकन

इस तुलना से अद्वैत की दो भिन्न प्राथमिकताएँ स्पष्ट होती हैं। शाङ्कर अद्वैत उस परम सत्ता की अबाधितता सुरक्षित करता है जिसे परिवर्तनशील नामरूप के साथ अन्तिम रूप से तादात्म्य नहीं दिया जा सकता। प्रत्यभिज्ञा यह प्रतिपादित करती है कि परम चेतना की पूर्णता उसकी विश्वाभिव्यक्ति को अपने से बाहर रखकर नहीं समझी जा सकती। पहले में बाध और विवेक को, दूसरे में स्वातन्त्र्य और प्रत्यभिज्ञा को विशेष व्याख्यात्मक महत्त्व प्राप्त होता है। ये प्राथमिकताएँ परस्पर सम्बन्धित हैं, पर एक-दूसरे में विलीन नहीं होतीं।

दोनों दृष्टियों के सामने कठिन प्रश्न भी बने रहते हैं। अद्वैत को स्पष्ट करना पड़ता है कि पारमार्थिक भेदाभाव के रहते अज्ञान और व्यवहार का कथन किस स्तर पर सार्थक है। शैवदर्शन को समझाना पड़ता है कि विश्व चित् की अभिव्यक्ति होते हुए भी सीमित ज्ञाता के लिए पराधीनता और दुःख का क्षेत्र क्यों बनता है। पहला उत्तर अध्यास तथा व्यवहार-परमार्थ विवेक की दिशा में, दूसरा संकोच और शक्तियों के अपरिज्ञान की दिशा में विकसित होता है। किसी एक उत्तर को केवल शब्दगत सरलता के कारण निर्णायक श्रेष्ठता देना उचित नहीं होगा।

प्रमुख परिणाम यह है कि जगत् के विषय में तीन प्रश्न अलग किए जाने चाहिए: क्या वह अनुभव में उपस्थित है; क्या वह चेतना से स्वतन्त्र है; और क्या उसके भेद पारमार्थिक हैं? पहले प्रश्न की स्वीकृति दूसरे तथा तीसरे की स्वीकृति अनिवार्य नहीं बनाती। मिथ्यात्व और आभास के बीच विवाद विशेषतः तीसरे प्रश्न तथा अभिव्यक्ति के तात्त्विक अर्थ पर केन्द्रित है। यह विभाजन तुलना को 'जगत् असत्य है' और 'जगत् सत्य है' जैसे अपर्याप्त विकल्पों से आगे ले जाता है।

7. निष्कर्ष

मिथ्यात्व और आभास परम चेतना से जगत् के सम्बन्ध की दो विशिष्ट व्याख्याएँ हैं। दोनों जगत् की स्वतन्त्र परम सत्ता स्वीकार नहीं करते, किन्तु शाङ्कर अद्वैत नामरूपात्मक भेद की पारमार्थिकता का निषेध करता है, जबकि काश्मीर की प्रत्यभिज्ञा परम्परा विश्वाभिव्यक्ति को चित्ति के स्वातन्त्र्य में प्रतिष्ठित करती है। इस कारण मिथ्यात्व को सर्वथा अभाव और आभास को मात्र भ्रान्ति कहना दोनों अवधारणाओं के साथ अन्याय है।

आश्रितता के स्तर पर आशिक साम्य, ज्ञान की मुक्तिकारी भूमिका में कार्यात्मक सादृश्य तथा परम कर्तृत्व और अभिव्यक्ति की स्थिति में मूलभूत वैषम्य सामने आया है। माया और परम शक्ति की प्रत्यक्ष समानता असमतुलनीय तात्त्विक स्तरों को मिला देती है। अतः दोनों दर्शनों की दार्शनिक निकटता उनके मतभेदों को निरस्त नहीं करती। उनकी तुलना का मूल्य इसी में है कि वह अद्वैत को एकरूप सिद्धान्त मानने के स्थान पर चेतना, बहुलता और मुक्ति के सम्बन्ध में विकसित भिन्न तर्क-सम्भावनाओं को स्पष्ट करती है।

सन्दर्भ

1. शङ्करभगवत्पाद, *ब्रह्मसूत्रभाष्यम्*, बादरायणकृत ब्रह्मसूत्र पर भाष्य। शृङ्गेरी: दक्षिणाम्नाय श्रीशारदापीठम्, अद्वैतशारदा, संस्थागत डिजिटल संस्कृत पाठ। प्रयुक्त स्थल: अध्यासभाष्य; 1.1.4; 2.1.14।
2. क्षेमराज, *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्*, स्वोपज्ञवृत्तिसहित; संस्कृत पाठ, अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणियाँ: जयदेव सिंह। प्रथम संस्करण। दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 1963।
3. एम. एस. जी. डाइचकोव्स्की, *द डॉक्ट्रिन ऑफ वाइब्रेशन: एन एनालिसिस ऑफ द डॉक्ट्रिन्स एण्ड प्रैक्टिसेज ऑफ कश्मीर शैविज्म*। प्रथम भारतीय संस्करण। दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 1989।
4. डी. पी. लॉरेन्स, *रिडिस्कवरींग गॉड विद ट्रान्सेन्डेन्टल आर्युमेन्ट: अ कन्टेम्पररी इन्टरप्रिटेशन ऑफ मोनिस्टिक कश्मीरी शैव फिलॉसफी*। अल्बनी: स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयॉर्क प्रेस, 1999।
5. शङ्करभगवत्पाद, *छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्*, मूल उपनिषद् सहित। शृङ्गेरी: दक्षिणाम्नाय श्रीशारदापीठम्, अद्वैतशारदा, संस्थागत डिजिटल संस्कृत पाठ। प्रयुक्त स्थल: 6.1.4 तथा षष्ठ अध्याय के सम्बन्धित भाष्यांश।
6. शङ्करभगवत्पाद, *बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम्*, मूल उपनिषद् सहित। शृङ्गेरी: दक्षिणाम्नाय श्रीशारदापीठम्, अद्वैतशारदा, संस्थागत डिजिटल संस्कृत पाठ। प्रयुक्त स्थल: 2.4.14।
7. गौडपाद, *माण्डूक्यकारिका*, शङ्करभगवत्पादकृत भाष्यसहित, वैतथ्यप्रकरण। शृङ्गेरी: दक्षिणाम्नाय श्रीशारदापीठम्, अद्वैतशारदा, संस्थागत डिजिटल संस्कृत पाठ। प्रयुक्त स्थल: कारिका 2.32।